मुस्लिम पर्सनल-लॉ

(सैय्यद अली अब्बास तबातबाई)

नोटः ये किताब अलहसनैन इस्लामी नेटवर्क के ज़रीऐ अपने पाठको के लिऐ टाइप कराई गई है और इस किताब मे टाइप वग़ैरा की ग़लतीयो को सही किया गया है।

Alhassanain.org/hindi

इस्लाम एक ऐसा सम्पूर्ण, व्यापक और सर्वव्यापी धर्म है जिसके निजाम व कानून में किसी प्रकार का उल्झाव, अवहेलना या टेटराहपन नहीं है बल्कि उसके नियमों में मनुष्यों के हित व कल्याण और शारीरिक और आत्मिक जरूरतों का पूरा पूरा खयाल रखा गया है।

इस्लाम इन्सान के रीत व रिवाजों और हरकत व सकनात पर गहरी नजर रखता है उसने हर दौर कि आवश्यकताऔं को दृष्टीकोण में रखकर जो नियम व कानून निचित किये है उनमें हर ज़माने के सामूहिक, व्यक्तिगत, आर्थिक, आत्मिक, राजनितिक ओर न्यायी समस्याओं के हल को दृष्टिकोण में रखा है।

इस्लाम अन्तिम आसमानी धर्म (ईश्वरीय धर्म) है और सभी धर्मों पर सर्वोच्चता इस कारण प्राप्त है कि यह एक सम्पूर्ण धर्म है और इसके आने के पश्चात सभी पिछले धर्मों नियमो को समाप्त कर दिया गया क्योंकि जब एक सम्पूर्ण चीज उपलब्ध है तो अपूर्ण की आवश्यकता बाकीं नहीं रहती -

इस्लाम का दरवाजा दुनिया वालो के समक्ष उस समय खोला गया जब समाज जेहनी पस्तियों और फिकी कमियों को पार करके मनुष्यता का कमाल प्राप्त करने के लिये बेचैन व बेकरार था और मनुष्य के अन्दर इतनी योग्यता पैदा हो चुकी थी कि वह उच्चस्तरीय ईश्वरीय पहचान व अर्थ को समझ सके और उनका अनुसरण कर सके।

इस्लाम आस्थायी मामलात और अख़लाक़ी व अमली नियमों का वह समाहार है जिसके अनुसार कार्य करके इन्सान दुनिया व परलोक में अच्छी किस्मत व सौभाग्य प्राप्त करता है।

इस्लाम एक ज़िन्दा दीन है, एक ऐसा सरचश्मा है जो मार्फ़त के प्यासों को सेराब करता है। उन्हें जीवन प्रदान करता है ओर उनकी निजात व तरक्की के ज़रिये बनाता है।

इस्लाम के नियम किसी इन्सान के बनाये हुए नही है बल्कि उस ईश्वर के बनाये हुए है जो रब्बुल आलमीन है जिसने इन्सान को पैदा किया है ओर जो इन्सानी अस्तित्व के प्रत्येक जर्रे से परिचित है। इसलिए इनका फायदा किसी अहद, किसी दौर, किसी ज़माने और किसी स्थान तक सीमित नहीं है।

इस्लाम की शिक्षाऔ में ऐसी कोई चीज़ नहीं जो इल्म और अक़्ल के तार्किक स्तर पर पूरी न उतरी हो। शायद यही कारण है कि यह धर्म साइसी उन्नति के पहलु - व - पहलु आगे आगे चलने और अपनी शान व शौकत व अजमत को ज़्यादा से ज़्यादा उजागर करने में सफल रहा है।

लेकिन इन सभी बातों के बावजूद अत्यन्त अफसोस के साथ कहना पड़ता है कि इस्लाम के शत्रुओं ने मुसलमानों और कुर्आनी सत्यताओं के बीच मतभेदों की खाडी पैदा करके मुस्लिम जाति को फित्ना व फसाद और पापों के रास्ते पर डाल दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि वह सता और प्रभुत्व से वंचित हो गई।

प्रथम अवहेलना जो मुसलमानों के बीच मतभेद का कारण बनी वह यह थी कि उन्होंने रसूले खुदा (स. अ.) के सच्चे जानशीनों का दामन छोड दिया जबकि पैगम्बरे इस्लाम ने अपने जीवन में साफ और प्रकट रूप से यह एलान कर दिया था कि कुर्आन और अहले बैत (अ.) एक दुसरे से जुदा नही हो सकते और इन दोनों में से केवल एक का अनुसरण (चाहे वह कुरान हो या अहलेबैत (अ.) मुसलमानो को निजात की ज़मानत नही दे सकता जो लोग निजात के इच्छुक हैं उन्हे चाहिये कि कुर्आनी शिक्षायें हज़रत (स.अ.) के सच्चे जानशीनों यानि हज़रत अली (अ.) और उनके बाद ग्यारह फ़रज़न्दों से प्राप्त करंश और उन पर सख्ती से अमल करें।

विश्वास किजिये कि अगर "हस्बोना किलाबल्लाह" की आवाज़ के साथ मुस्लमानों के बीच अवहेलना और मतभेद की लहर पैदा न हुई होती तो इस्लाम जाति का रोब दबदबा, और सम्मान व प्रभुत्व बना रहता, और यह प्रश्न ही उत्पन्न न होता कि किसी दौर की हुकूमत मुस्लिम पर्सनल लॉ में तबदीली का स्वप्न देख सके।

मुस्लिम पर्सनल लॉ की प्रशंसा में इस्लाम धर्म का हर वह नियम आता है जिसका सीधा सम्बन्ध मुस्लमानों की साधारण जिन्दगी, रहन सहन खान पान हराम हलाल पारस्परिक व व्यक्तिगत कार्यो घरेलु मामलात और दीनी व धर्मी समस्याओं मसलन निकाह व मुत्ता, पालन पोषण,बच्चो का लालन पालन और

शिक्षा -दीक्षा, वसियत व प्रदान, तलाक व फ़िस्ख़े निकाह, महर व इददत और जायदाद व तर्के के बँटवारे इत्यादि से है।

चूँकि शरीअते मोहम्मदी के ये तमाम नियम क़र्आनी व आसमानी हें सलिये इनके बुनियादी ढ़ाँचे या किसी हिस्से में तबदीली का अधिकार न मुसलमानों को है और न किसी हुकूमत को अधिकार है कि वह अपनी तरफ़ से इस्लामी नियमों में कोई तबदीली या बदलाव कर सके।

अंग्रेज़ो की सत्ता में भी मुस्लिम पर्सनल लॉ को बाक़ी व बनाये रखा गया और सभी सरकारी अदालतों में मुसलमानों के शादी ब्याह, रोज़ी -रोटी व पाल पोषण और तलाक़ या जायदाद से सम्बन्धित सभी कलह तथा वैमनस्य युक्त समस्याओं के फ़ैसले इस्लामी नियमों के अनुसार होते रहे, यहा तक कि हिन्दुस्तान स्वतन्त्र हुआ और स्वतन्त्रता के पश्चात भी यही सिलसिला जारी रहा, किन्तु कुछ समय से पार्लीमेन्ट मे कभी कभी यह आवाज़ उठती रहती है कि हिन्दुस्तान में मुस्लिम पर्सनल लॉ को समाप्त करके सभी धर्मो और धर्मियों के लिये एक सा और सम्मिलित नियम लागू कर दिया जाये।

इस विचित्र और अपुर्ण कूट नीति पर ग़ौर करने से यह पता चलता है कि हुकूमत का इरादा मुस्लमानों कों कुरान व सुन्नत के ख़िलाफ़ अमल करन् पर मजबुर करना है और इस गलत कदम के द्दारा मुस्लमानों के दीनी रीत व रिवाजों व धार्मिक नींव को समाप्त करना है यानि कोई मुस्लमान इस तरह विवाह न करे

जिस तरह शरीअते मोहम्मदी का हुक्म है उस तरह तलाक़ न दे सके जिस तरह कुरान कहता है, उस प्रकार जायदाद व तर्के का बँटवारा न करे जिस तरह इस्लामी अहकामात है और उस तरह जीवन यापन न करे जिस तरह इस्लाम चाहता है।

इस पक्ष पादपातता और ग़लत इक़दाम के औचित्य मे कभी यह कहा जाता है कि यह इस्लामी क़ानून, यह जीवन सम्बन्धित नियम यह निज़ामे ज़िन्दगी जिसका नाम शरीअत है चौदह सौ साल वर्ष पुर्व के हालात को देखते हुए उस समय के माहौल पर नज़र करते हुए उस समय की आवश्यकताओं का अनुमान करते हुए अस्तित्व मे आया था तो इतनी शताब्दियाँ व्यतीत हो जाने के पश्चात इतने परिवर्तन आने के बाद इसमें क्या यथार्थता रह गई है जो इस कानून के प्रत्येक अंश को बाक़ी रखा जाये और उसकी पाबंदी आवश्यक समझी जाये। कभी यह आवाज़ उठती है कि उस समय इस्लामी समाज कम और सीमित था लोगों का मानसिक स्तर नीचा था सम्बन्ध तथा मेल जोल इतने विस्तृत नही हुए थे अतः उस सीमित समाज मे यह बातें निभ जाती थीं जो क़ानूने शरीअत मे रखी हुई है, किन्तु अब मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्ध उन्नति की सीढ़ियों को पार कर चुके है, और सब जातियाँ एक दुसरे से मिलती जा रही हैं अतः ऐसी सूरत में वे नियम जो उस समय के समाज हेतु निश्चित किये गये हैं इस दौर में क्योंकर चल सकते हैं ? कभी कभी धर्म शास्त्र के कुछ़ विशेष नियमों को बहस का टोपिक बनाया जाता है और उसमें मनुष्य की भावनाओं का वास्ता दिया जाता है। इन्सान की

सहानुभूति और कृपा के जो स्वभाविक अभि याचना है उनके अन्तर्गत यह कहा जाता है कि यह धर्म शास्त्र की नियामवली क्योंकर इन्सानी स्वाभाविकता की तृष्णा को समाप्त करने मे सहायक सिध्द हो सकती है जबकि दुनिया प्रगतिशील हो चुकी है ?

सत्यता तो यह है कि इन उदाहरणों मे समय के परिवर्तन या चौदह सौ वर्ष का कोई हस्तक्षेप नहीं हैं बल्कि चौदह सौ वर्ष से इस्लामी धर्म शास्त्र पर जो अमल होता रहा है हुकूमत का उद्देश्य वर्तमान में उसे समाप्त कर देना हैं।

जिन विषयो में इन्सानी भावनाओं का वास्ता दिया जाता है उनमें से एक आदेश, पुत्र होते हुए सौ पुत्र का पैतृक सम्पति से वंचित रहना भी है। यह इस्लामी धर्म शास्त्र का ऐसा विषय है जो साम्प्रदायिक मतभेदों से परे है और संम्मलित रुप से सम्पुर्ण मुस्लमानों मे सर्वमान्य है मगर इस बारे मे यह कहा जाता है कि यह कहाँ का न्याय है कि एक तो उसके माता पिता दुनिया से प्रस्थान कर गये यह घटना स्वयं उसके लिये क्या कम है दुसरे यह कि वह अपने पारिवारिक पैतृक सम्पति से भी वंचित रहें।

दुसरा प्रश्न विवाह की तादाद का है जिसके लिये यह कहा जाता है कि इस्लाम ने मर्द को चार शादियोँ का अधिकार दिया है किन्तु औरत को यह अधिकार प्राप्त नहीं हैं इसलिए यह विषय बराबरी पर निर्भर नहीं है। इसी के अन्तर्गत तलाक़ का मसला भी उभारा जाता है कि तलाक़ का हक़ सिर्फ़ मर्द को दिया गया है और

औरत को इस अधिकार से वंचित रखा गया है। बराबरी का तक़ाज़ा तो यह है कि जिस तरह मर्द जिस औरत को जब चाहे तलाक़ दे दे। उसी प्रकार औरत को भी यह इख्तेयार होना चाहिए कि वह मर्द को जब चाहे तलाक़ दे दे जिस तरह पश्चिमी देश, मसलन युरोप इत्यादि में यह चलन है कि वहाँ ज़रा ज़रा सी बात पर औरत मर्द से तलाक़ की माँग कर लेती है या स्वयं तलाक़ दे देती है।

इस्लाम इस तरह की बे वजह तलाक़ का बिल्कुल हामी नही है उसकी नज़र में अकेला मर्द एक अपुर्ण अस्तित्व है और उसी तरह अकेली औरत भी एक अपुर्ण अस्तित्व के समान है इनके होने का कारण यह है कि नस्ल के अस्तित्व और ज़िन्दगी की तश्कील में औरत व मर्द एक दुसरे के मोहताज है। अतः वैवाहिक सम्बन्ध दोनों की कमियों को दुर करता है और उनके अस्तित्व की स्थरता तथा पुर्णता का कारण बनता है।

जो मर्द या औरत तन्हाई का जीवन व्यतीत करते हैं उन्हें अधिकतर आसाबी और आत्मिक तक़लीफ़ों में मुबतला होने का खतरा रहता है क्योकि शारीरिक इच्छ़ाओं को दबाने से उसका परिणाम विभिन्न और ख़तरनाक बीमारियों की सूरत में निकालता है और अगर वे धार्मिक तरीक़ो से हट कर शारीरिक इच्छ़ाओं की पुर्ति करते है तो इसके और अधिक ख़तरनाक परिणाम प्राप्त होते है।

विवाह और परिवार नियोजन की आवश्यक शर्ते पुरी करते हुए इन उमुर की अन्जाम देही प्रकृति का आदेश पत्र और दुनिया का ऐसा क़ानून है जिससे

अवहेलना की बड़ी संगीन सज़ा है इस लिए मर्दो को चाहिए की वे अपने विवाह की नींव हवस और आत्मिक इच्छाओं पर न रखें और माल धन व दौलत या सुन्दरता की खातिर शादियाँ न करें क्योकि ऐसे सम्बन्ध कमजोर और ऐसी शादियाँ अधिकतर बे बुनियाद साबित होती है उन्हें चाहिए कि काफ़ी सोच समझ और छानबीन के पश्चात ही अपने जीवन साथी को चुनें जो बा ईमान, बुध्दिमान और चरित्रवान व होशमन्द हो।

औरत और मर्द, औरत होने या मर्द होने की बिना पर एक दुसरे पर कोई प्रधानता नही रखते, इस्लाम की निगाह में दोनों इन्सान हैं और एक दुसरे के अधिकार भी निश्चित हे।

कुशल एंव बुध्दिजीवियों के विचारों अनुसार उत्तेजित एंव मनोभाविक मामलात में औरत को मर्द पर प्रधानता प्राप्त है और सोच विचार के मामले में मर्द उत्तम हैं और चुँकि प्रबन्धकीय कार्यो में बुध्दि व सोच-विचार कि अधिक आवश्यकता होती है इसलिए बुध्दिमता यह आदेश देती है कि परिवार के प्रबंध व्यवस्था की ज़िम्मेदारी मर्द के काँधो पर डाली जाये और संरक्षता का काम उसी के हवाले किया जाये और प्रकृति का हुक्म भी यही है चुनाँचे कुराने मजीद मे इरशाद हुआः-

“उन विशेषताओं के आधार पर जो अल्लाह ने उन्हे प्रदान की हैं और उन ज़िम्मेदारियों की वजह से जो उन्होने स्वीकार की है मर्द, औरत के संरक्षक है। “ (अन-निसा आयत न. 34)

इस कुरानी आदेश के अनुसार मर्दो की अभिभाविकता दुनिया के सभी देशों में स्वीकार की जाती है और औरतें भी इससे प्रसन्न है।

फ्रांस के नवीन क़ानून की धारा 213 के अनुसार घर का संरक्षक अभिभावकता, प्रबन्ध व्यवस्था और सरपरस्ती मर्द के ज़िम्मे है और दुसरी क़ौमों के नियमों में भी लगभग यही दशा है। कुरान ने मर्द को यह ज़िम्मेदीरी इसलिए दी है कि वह शारीरिक रुप से भी अधिक शक्तिशाली है और कठोर काम करने और अपने परिवार की रक्षा करने योग्य है।

शारीरिक रुप से औरत की बनावट मृदुलता एक कोमलता से परिपूर्ण है और उसके मनाभाव व एहसासात भी कोमल होते है। इसके अलावा औरत अपनी महाना कमज़ोरी के दिनों में गर्भावस्था के दौरान या बच्चे को दुध पिलाने के समय में मर्द की तरह असीमित सलंग्नताओं की शक्ति रखती। मर्द का अपने खानदान का अभिभावक होने का अर्थ यह नही कि वह दुसरो का मालिक और दुसरे उसकें ग़ुलाम हैं बल्कि इससे अर्थ यह है कि मर्द ने ख़ानदान की माली सहायता की जो ज़िम्मेदारी अपन सर ली हैं। उसकी बिनी पर वह सर - बराह कहता सकता है लेकिन उसके अधिकारों के हुदूद ख़ुदा की ओर से निश्चित हैं और उसे यथार्थता की हद से आगे बढ़ने से रोक दिया गया है।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि इस्लाम ने मर्द को अपने ख़ानदान का अभिभावक बनाते समय औरत के अधिकारों को नज़र अन्दाज़ नही किया बल्कि उसे घरेलू कार्यो का संरक्षक बनाया है।

जैसा कि रसूले अकरम का इरशाद है कि मर्द को परवार के प्रबन्ध और औरत को घरेलू कार्यो में आज़ादी व ख़ुदमुखतारी प्राप्त है।

एक और स्थान पर कहते हैं कि उचित यह है कि औरत घर का दिया जलाये, खाना तैयार करे और जब उसका पति घर आये तो किवाड़ के नज़दीक जाकर उसका स्वागत करें और स्वागतः कहे और बिना कारण उसकी इच्छाएं पूरी करने से इन्कार ना करे।

एक और स्थान पर फ़रमाया उस व्यक्ति पर अल्लाह की कृपा हो जो

अपनी पत्नियों के साथ अपने सम्बन्धों की आधारशिला उपकार और अच्छाइयों पर रखे।

जो व्यक्ति अपने बच्चो के अधिकारो को बर्बाद करे लानत व मलामत के योग्य है।

इन सभी बातों से निम्नांकित परिणाम प्राप्त होते हैः

1. पति के लिये ज़रुरी है कि वह अपनी पत्नि का ख्याल रखे और स्तरानुसार ख़र्चे पूरा करे। इन खर्चो मे पोशाक, ख़ुराक़, घर का साज़ व समान, सेवक और

दुसरी जीवन हेतु सभी आवश्यक वस्तुएं सम्मलित हैं जो औरत को उसकी हैसियत के अनुसार दी जानी चाहिए।

2. मर्द अपनी बीवी को दुख और निर्धनता में मुबतला न करे।

3. बीवी का आदर व सम्मान करे।

4. बीवी को उसके कार्य हेतु मजबुर न करे जो उसकी क्षमता से बाहर है।

5. बीवी को अच्छाइयों का आदेश दे और बुरे कामों से रोके।

इसी तरह बीवी के लिये भी हुक्म है कि पति से अशिष्ट व्यवहार न करे, क्रोध, अशिष्टता और बदज़बानी से पेश न आये। काम काज़ मे पति की सहायता करें, घर की जिम्मेदारीयाँ सँभाले, पति के आज्ञा के बग़ैर घर से बाहर क़दम न निकालें इत्यादि।

यह बराबरी इस्लाम के अतिरिक्त किसी धर्म के नियमों मे नही है इसलिए इसमें संशोधन का ख़याल इस्लामी धर्मशास्त्र और मुस्लमानों पर अत्याचार के समान है।

यह किताब मुस्लिम पर्सनल लॉ के मामलात व नुकात पर निर्भर है उन तमाम बातों को उजागर किया गया है जिनका संशोधन इस्लाम धर्म शास्त्र और कुरानी व्याख्यान के विरुध हुकूमत के सदस्यों में विचारधीन है, हमें विश्वास है कि इस किताब के अध्यन के बाद मुस्लिम पर्सनल लॉ में संशोधन के विरुध मुस्लमानों मे

आक्रोश की मनोभावना उत्पन्न होगी और वे इस्लामी धर्म शास्त्र की बुनियाद को समय कि इस छीना झपटी से बचाने की कोशिश करेगें।

वस्सलाम

(सैय्यद अली अब्बास तबातबाई)

बिस्मिल्लाह हिर्र-रहमा-निर्र-रहीम

अलहमदो लिल्लाहे रब्बिल आलेमीन वस्सलातो वस्सलामो अला सैय्यदिल अम्बियाए वल मुरसलीन वा आलेहित्ताहिरीन।

भूमिकाः-

दीने इस्लाम की वीशेषताओ मे एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसने प्रत्येक तथ्य को उसके वास्तविक और प्राकृतिक दृष्टिकोण से देखा है। ना निर्मम आदेश लागू किये ना मृदुल क्योंकि दायं बायं पथभ्रष्टता है और मध्यस्थ मार्ग ही सिराते मुस्तक़ीम है।

“इन्ना ख़लक़नाल इन्साना मिन नुत्फ़तिन अमाशाजिन नतबलैहे फ़जअलनाहो समीअन बसीरा इन हदैनस्सबीलः अम्मा शाकिरअं वा अम्मां क़फरः” । हमने इन्सान को पैदा किया मिले जुले हुये नुत्फ़े से ताकि परीक्षास्थल में लायें।

अभी तक मनुष्य के लिए एक वचन का प्रयोग किया गया है। “हमने मनुष्य को जन्म दिया” “नतबलैहे” “उसे परीक्षा स्थल में लाने के वास्ते” “फ़ज़ाअलनाहो समीअन बसीरः” “हमने उसे सुनने के लिए कान प्रदान किये” “अना हदैनस्सबीलः” “हमने एक विशिष्ट मार्ग की ओर उसे निर्देश दिया”

अभी तक सम्पुर्ण ऐलान एकाकी बना हुआ है। अब जब हमने उसको एक विशिष्ट मार्ग की ओर अनुदेश दे दिया। सुन्ने के लिए कान और देखने के लिए नेत्र प्रदान कर दिये, अर्थात सत्य असत्य के भेद की योग्यता प्रदान की, उचित अनुचित को पहचानने की शक्ति प्रदान की बुध्दि तथा विवेक की शक्तियां प्रदान की। इसके बाद उस में आत्मनिर्भरता के गुण ने जन्म लिया तो “अमंमा शाकिरअं वा अम्मा क़फ़ूरः” । अब दो गिरोह हो गये कोई कृतज्ञ है और कोई कृतध्न। अब इसके उपरान्त यह अन्तर जो निर्धारित हुआ तो अन्त तक रहा “फ़रीकुन फ़िल जन्नतः वा फ़रीकन फ़िस्सईर” । एक गिरोह उधर गया और एक गिरोह उधर चला गया।

ज्ञातव्य है कि खदाई शासन व्यवस्था सब के लिये समान है। यह वह हुकूमत है जिसकी अधिपत्य स्वीकृति की मनुष्य से मांग है। यह वह हुकूमत है जिसकी अधिपत्य स्वीकृत की मनुष्य से मांग है। और इसी के लिए ऐलान है कि “लिल्लाहिल ख़लक़े वल अम्र” ख़ुदा का ही विशेष अधिकार है जन्म देना और अल्लाह ही का विशेष अधिकार है अम्र (अर्थात विधायना लागू करना)

तात्पर्य यह हूआ कि जिस प्रकार वास्तविक जन्मदाता वही है माता पिता है मध्यस्थ। उसी प्रकार वास्तविक शासक वही है। दुसरे को अपनी दी हुई शक्तियों से जितना सामर्थय प्रदान कर देगा उतनी वह कोई कारगुज़ारी सांसारिक व्यवस्था में कर सकता है। हज़रत ईसा को उसने थोड़ी शक्ति प्रदान की। तो इरशाद हुआ "तख़लीक़ो मिनत्तीन" मैं तुम्हारे लिये जन्म देता हुँ एक सुरत पक्षी की तो उस में फूँक मार देता हूँ और वह पक्षी हो जाता है। अल्लाह के आदेश से जन्म देने को सम्बन्धित किया गया है जनाबे ईसा की ओर तो क्या यह शिर्क हो गया ? नही तौहीद और शिर्क़ में अन्तर यहाँ से हो गया। ज्ञातव्य है कि कुरान की दृष्टि से ख़ल्क़ का सम्बन्ध दुसरों की ओर भी स्पष्ट है किन्तु बस अन्तर यह है कि वास्विकता जन्म देने की शक्ति उस ख़ुदा से सम्बन्धित है जिसे हम ख़ालिक़ कहते हैं और दुसरी जो भी इस श्रेणी में आयेगा उसकी प्रदत्त शक्तियों से उसके आदेश से उसकी मसलहत से।

ख़ल्क़ के साथ "अम्र" भी उसी से सम्बन्ध है जिस प्रकार ख़ालिक़ वास्तव में वही है दुसरा ख़ालिक हो सकता है। किन्तु उसी सीमा तक जितना सामर्थय वह प्रदान कर दे उस प्रकार वास्तविक "आमिर" वही है दुसरा ऊलिल अम्र हो सकता है। किन्तु वही जिसको वह स्वयं शासन सत्ता सौंप दें।

"अतीउल्लाहा वा अतीउर्ररसूल वा ऊलिल अमरे मिनकुम" इताअत करो अल्लाह की इताअत करो उसके रसूल की और उलिल अम्र की जो तुम में से है।

यहाँ दो तथ्यों पर श्रोता का विवेक उलझा। वह समझा कि हम ही में से है अर्थात हमारे ही भाई बन्द है। परन्तु जब कुरान में तलाश किया तो ज्ञात हुआ कि ऐसा ही शब्द रसूल (स.) के लिये भी प्रयुक्त हुआ।

"होअल्लज़ी बआसा फ़िल उम्मीयीना रसूलममिन्हुम" वह वह है जिस ने उम्मीयीन में रसूल (स.) भेजा उन्ही में से। रसूल (स.) को कहा गया "मिन्हुम" अर्थात रसूल उन्ही में से, और ऊलिल अम्र के लिए कहा गया "मिन्कुम" तुम्ही में से, परन्तु रसूल (स.) जो उन्में से है वह उनका निवार्चित किया हुआ नहीं था। ऊलिल अम्र तुम्ही मे से है परन्तु तुम्हारा निवार्चित किया हुआ नही है। सारांश यह है कि जिस प्रकार ख़लक़ ख़ालिक़ की विशेषता है उसी प्रकार अम्र भी ख़ालिक़ ही से सम्बन्धित है। जिस प्रकार दुसरा ख़ालिक़ उसके दिये हुये सामर्थय से होता है, उसी प्रकार जो साहबे अम्र होगा उसको यह अधिकार नही होगा कि वह अपनी ओर से कोई विधायन लागू करें, (वह तो उस ने हमारे मुंह में जबान दे रखी है चाहे उचित लाभ उठायें चाहे अनुचित लाभार्जन करे) किन्तु उसकी ओर से अम्र का अधिकार उसी को होगा जिस को वह निर्वाचित करे, जिसको वह आज्ञा दे, जिस को वह अधिकार दे। उस ने इन को नियुक्त कर दिया अम्र के लिए तो अब इन के आदेश इन के नही हो सकते उसी के होंगे जिस ने इन को नियुक्त किया है। इसी लिये उस ने स्पष्ट रुप से ऐलान कर दिया "जिस ने रसूल की इताअत की उस ने अल्लाह की" अर्थात यह ना समझों की तुम्हे दो की आज्ञा पालन करनी है

वास्तव में एक काम है जिस के दो नाम है. उसी का नाम इताअते ख़ुदा उसी का नाम इताअते रसूल (स.)। तो जब उस की आज्ञा के समक्ष किसी को किंचत मात्र भी अधिकार प्राप्त नहीं है तो शरीअत मे संशोधन का अधिकार भी किसी को नहीं है। “मा काना तोआ मिन वला मोमेनतिन इज़ा क़ज़ल्लाहो वा रसूलोहू अम्मा अन यकूना लहुमुल ख़ैरते मिन अमरेहिम” किसी साहबे ईमान मर्द और किसी साहबे ईमान औरत को यह हक़ नही है कि जव अल्लाह और उसका पैग़म्बर कोई फ़ैसला कर दे तो उन्हे ख़ुद अपने मामलात में कोई इख्तेयार हो।

जब हमारा कोई इख्तेयार ही नही तो परिवर्तन,संशोधन का प्रश्न ही कहां पैदा होता है ? जो व्यवस्था उस की ओर से स्थापित कर दी गयी उसी का पालन करना ही धर्म पालन करना है।

वसलाम

राना हुसैन नक़वी

दीर्घ काल में ज़रा धीमी आवाज़ में और वर्तमान राजनीति के इन्किलाबी युग में ज़रा ताक़त के साथ जो आवाज़ रफ़ता-रफ़ता बलंद से बलंद तर होती जा रही है वह शरीरते इस्लाम में परिवर्तन की माँग है। यह सवाल कभी इस रूप में

सामने आता है कि यह कानूने हयात, निज़ाम ज़िन्दगी जिसका नाम शरीअत है 1400 बरस पहले के हालात देखते हुए उस समय के वातावरण पर नज़र करते हुए उसकी आवश्यकताओं का अंदाजा करते हुए निर्धारित किया गया था तो इतने युगों के हालात के बदलने के बाद इतने इन्किलाबात आने के बाद आज इसका क्या औचित्य है कि इस कानून के प्रत्येक भाग को बाक़ी रखा जाए और उसकी पाबन्दी आवश्यक समझी जाए। कभी यह कहा जाता है (और वास्तव में पहली ही बात का एक जुज़ है किन्तु शीर्षक इसका पृथक है) कि उस समय "इस्लामी मआशरे" की सीमाऐं बहुत संकुचित थीं और आपसी सम्बन्ध तथा मेल-जोल का विस्तार नहीं हुआ था। एक सीमित समाज था और उस सीमित समाज में यह बातें निभ जाती थीं जो क़ानूने शरीअत में रखी गई हैं किन्तु अब सम्बन्ध जिस तेज़ी से आगे बढ़ते जा रहे हैं और समस्त क़ौमें मानो एक केन्द्र के रूप मेंपरस्पर सम्बद्ध होती जा रही हैं तो अब इस दौर के सम्बन्ध मेल-जोल और समाज की सीमा वृद्धि के साथ-साथ भला यह सीमित और मुख़्तसर क़ानून जो उश समय की सामाजिक आवश्यकताओं की दृष्टि से लागू किया गया था अब क्यों कर चल सकता है?

इस सम्बन्ध में कभी-कभी विशेष अहकामे शरीअत पर बहस की जाती है और इसमें मनुष्य की भावनाओं का वास्ता दिया जाता है। मनुष्य की दया, कृपा, सहानुभूति, आत्मीयता के जो लाज़मी तक़ाज़े हैं उनको पेश करके यह कहा जाता है कि यह कानूने शरीअत देखो क्यों कर इन्सानी फ़ितरत की प्यास को बुझा सकता

है यह चीज़ वास्तव में पहले भाग से सम्बन्धित नहीं है वह तो यह या कि 1400 वर्ष में हालात में परिवर्तन हुए हैं अतः क़ानूने शरीअत में परिवर्तन होना चाहिए किन्तु यह इन्सानी फ़ितरत का उदाहरण देकर जो सवाल प्रसतुत किया जाता है उसमें हालात के परिवर्तन या सौ वर्ष का कोई दख़्ल लहीं है जो चीज़ मानव स्वभाव, मानव समाज और भावनाओं की दृष्टि से आज अनुचित है वह 1400 वर्ष पूर्व भी अनुचित ही थी। इसका अर्थ यह है कि यह किसी चौदहवीं शताब्दी की समस्या नहीं है वरन् 1400 वर्ष से क़ानूने शरीअत पर जो अमल होता रहा है उस सबको अनुचित प्रमाणित करना है।

उदाहरणार्थ पुत्र के होते हुए पोते का मीरास से वंचित होना यह इस्लामी शहीअत की एक ऐसी समस्या है जो जातिगत भेतभाव की सीमा से अधिक महान है अर्थात यह नहीं है कि किसी एक विचारधारा के अनुसार यह समस्या जटिल हो और किसी दूसरी विचारधारा में यह नहीं पाया जाता हो वरन् मुशतरकः हैसियक से समस्त इस्लामी फ़िरक़ो में यह समस्या ज्वलँत प्रश्न का स्वरूप प्रस्तुत करती है। अब मनुष्य की भावनाओं का उदाहरण देकर कहा जाता है कि ज़रा देखिए पोता या नवासा बेचारा एक तो उसके पिता या माता दुनिया से उठ गए वह स्वयं ही बेबसी और बेकसी की हालत में हो गया और उसके बाद उसे अपनी खा़नदानी मीरास से भी वंचित कर दिया जाए यह कैसा निर्मम आदेश है तो वास्तविकता यह है कि यह परिवर्तन की माँग ज़माने के परिवर्तन के आधार पर नहीं है वरन् शरीअते

इस्लाम को आरम्भ से गलत क़रार देना है।इसका अर्थ यह है कि अब तक जो तुम समझते आए हो और जिस पर अमल करते आए हो वह एक अत्याचारी विधान था तो अब तक तो उसका अनुसरण करते रहे, परन्तु अब तो कम से कम इस अत्याचार से बच जाओ इसका दूसरा उदाहरण "तादाते अज़वाज" (पत्नियों की संख्या) आदि की समस्या है। इसके बहुत से पहलू हैं। कभी पुरूष को स्त्री की अपेक्षा प्रधानता देना, कि स्त्री को तो एक के अतिरिक्त दूसरा विवाह करने का अधिकार नहीं दिया गया और पुरूष को एक समय में चार विचवाह चकाच अधिकार दे दिया गयारहै। यह आपत्ति उश समय सशक्त रूप धारण कर लेती है जजब मुसलमान इस्लामी सेवा समझते हुए इस्लाम को दीने मसावात साबित करता है अर्थात तइस तरक्की पसंद नारे के साथ इस्लाम को सहयोगी साबित करने का प्रयत्न करता है कि इस्लाम तो पूर्ण रूप से मसावात का समर्थ् है। जिससे अब पूरी शक्ति के साथ इस चीज़ को प्रस्तुत किया जाता है, कि समावात कहाँ रह गई आप जो यह दावा करते हैं कि इस्लाम ने पुरूष को इतनी स्वतन्त्रता दी है और स्त्रियों पर पाबन्दी लगा दी है तो मसावात कहाँ रही?

इसके बाद जो जीवन के विविध अनुभव होते हैं और व्यक्ति के असंतुलित जीवनयापन के कारण जो दुष्परिणाम पैदा होते हैं उन्हें भी इस्लामी क़ानून के विरूद्ध प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है कि पुरूष ने एक स्त्री से अत्याधिक प्रेम के आधार पर समस्त लाभार्जन को उससे सम्बद्ध कर दिया और

दुसरी पत्नी को उक्त- लाभ से वंचित कर दिया तो अब यह असमानता “तादाते अज़वाज” से हुई।

इसी प्रकार तलाक़ की समस्या भी प्रस्तुत की जाती है कि पुरूष तथा स्त्री में हर प्रकार से मसावात कहाँ ? तलाक़ का अधिकार दिया ही नहीं गया है यदि दोनों में मसावात होती तो चाहिए यह था कि जैसे पति जब चाहचे तलाक़ दे दे वैसे ही पत्नी भी जब चाहे तलाक़ दे दे जैसे आधुनिक योरोप का विधान है अथवा दोनों पर पाबन्दी होती जैसा मसीही योरोप का विधान है अर्थात उनके धर्म और कर्तव्य में अत्याधिक मतभेद है।

क़ानूने शरीअत में पुरूष को भी तलाक़ का अधिकार नहीं है बस वह स्थायी रिश्ता है जो हो गया तो फिर मृत्यु के हाथ से ही वह रिश्ता टूट सकता है और कोई माध्यम इसके टूटने का नहीं है तो यह तात्पर्य है मसावात का चाहे सकारात्मक रूप से लागू हो चाहे नकारात्मक रूप से। किन्तु इस्लाम लो यह महीं रखा वरन् एक को अधिकार दे दिया और दूसरे को रहीं दिया तो यह पूर्ण मसावात के विरूद्ध है। अब यह सब जो आवाजें आना आरम्भ हुईं तो मुसलमानों में व्याकुलता फैलना आरम्भ हो गई। इस्लाम के नाम से कोई करक़्क़ीयाफ़्ता मुसलमान सहन कर लेता है क्यों कि इस्लाम के नाम पर कितनी ही इस्लाम को हानि पहुँचाई जाए मुसलमान सहन करते रहै हैं किन्तु ग़ैर के हाथ से अथवा ग़ैर की ज़बान से कोई बात ऐसी निकल जाए तो मुसलमान अस्वाभाविक रूप से

भावुक हो जाता है। क्योंकि क़ुरान की दृष्टि से मनुष्य का शासन मनुष्य पर जारी है। यह हुकूमत वह है जो केवल मानव-जाति से सम्बन्धित नहीं है वरन् समस्त सृष्टि इसी हुकूमत की छत्र छाया में है जिसे यों कहा गया है "यस-जुदो-लहू माफ़िस-समावाते वमा फ़िल-अर्ज़" (अल्लाह के लिए सर ब सुजूद है तमाम काएनात की चीजें जो आसमान में हैं और ज़मीन पर हैं) "माकाना तोमिनो वला मोमेनितिन इज़ा क़ज़ल्लाहो वा रसूलोहू अमरन अन यकूना लहुमुल खियारतो मिने अमरेहिम"

"किसी साहबे ईमान मर्द और किसी साहबे ईमान औरत को यह हक़ नहीं है कि जब अल्लाह और उसका पैगम्बर कोई फैसला कर दे तो उन्हें खुद अपने मामलात में कोई इख़तियार हो" ।

यह मनुष्य पर तर्क समाप्ति के लिए है कि दोनों वर्ग की वज़ाहत कर दी जाती है यद्यपि क़ुराने मजीद में आदेश पुरूष को सम्बोधित करके दिए गए हैं इसी प्रसंग में महिलाएं सम्मिलित हैं यदि यह कह दिया जाता कि किसी को कोई इख़तियार नहीं तो किसी में पुरूष और स्त्री दोनों दाख़िल होते किन्तु क़ुरान ने इसका स्पष्टिकरण करना चाहा " माकाना ला मोमेनिन वला मोमेलिन "

(किसी मोमिन और मोमिना को यह हक़ नहीं है) "इज़ा कज़ल-लाहो व व रसूल हो अमरन" (जब अल्लाह और रसूल कोई फ़ैसला कर दें तो कोई भी इख़तियार ज़रा सा भी उन्हें अपने मामले में रह जाए ऐसा नहीं है) और यही वह

ऐलान है जिसके आधार पर ख़ालिक़ ने चूँकि अपना प्रतिनिधि रसूल को बनाया तो कह दिया। “अन-नबीओ औला बिल मोमेनीना मिन अनफ़ुसेहिम”

नबी उनके नुफ़ूस पर खुद उनसे ज्यादा इख़तयार रखता है। इस से बढ़ कर कोई निरंकुश्ता हो ही नहीं सकती अर्थात निजी मामलात उनके किन्तु रसूल (स.) को स्वयं उनसे अधिक उनके नफ़्स पर अधिकार है इसी फ़र्मान को सामने रख कर पैग़म्बर (स.) ने ग़दीर में सवाल किया “ अलतस्तो औला बेकुम मिन अनफ़ुसे कुम क्या मैं तुम पर तुम्हारे नुफ़ूस से ज़्यादा इख़तियार नहीं रखता” “औऱ तमाम मजमे ने स्वीकार किया” “बला” (अर्थात क्यों नहीं) और यही स्वीकृति पहले भी ली गई थी”

क्या मैं तुम्हारा परवरदिगार नहीं हूँ उस समय भी सब ने प्रकृतिक स्वर में अथवा शब्दों में किसी न किसी प्रकार कहा था बला वही स्वीकृति आज रसूल (स.) ने ली क्या में तुम पर तुम्हारे नुफ़ूस से ज्यादा हक़ नहीं रखता। क़ालू बला इस प्रश्नावली में शब्द बदले हुए हैं किन्तु उत्तर एक ही है बस अन्तर है तो केवल इतना कि खालिक़ की दी हुई स्वीकृति पर जो स्थिर न रह सकेगा वह काफ़िर कहा जाएगा और पैग़म्बर (स.) को दी गई स्वीकृति पर जो स्थिर न रह सकेगा वह मुनाफ़िक़ कहलायेगा। अर्थात अलस्तो बे रब्बेकुम पर जो स्वीकृति पर मुहम्मदन रसूल-अल्लाह का आधार स्थापित हुआ और उसके उपरान्त रसूल ने जो यह ऐलान कर दिया मन कुन्तो मौला फ़ा हाज़ा अलीउन मौला इस पर आधार

स्थापित हुआ अलीउन वली-उल्लाह का तो इलाही शासन व्यवस्था इस प्रकार निर्धारित हुई। वास्तविक शासक अल्लाह उसके प्रतिनिधी हज़रत पैग़म्बरे खुदा अर्थात उसकी निसबत से यह राज्य प्रतिनिधी और हमारे लिहाज़ से यह शासक और जब पैग़म्बरे खुदा (स.) इस दुनिया से उठ जाएँ तो बाहैसियत ख़लीफ़ऐ रसूल (स.) हमारा हाकिम हर युग में वह जो उस समय का साहिबुल अम्र (अ.) हो।

और वास्तव में यह शासन व्यवस्था अपने इसी रूप में स्थापित रहती तो क़ानूने शरीअत में जरा सा भी संशोधन का स्थान न रहता क्योंकि ज़ाहिर है जो मूलभूत विधि विधाता है उससे यह अन्देशा नहीं है कि वह अपने बनाए हुए क़ानून में कमी या ज़्यादती करेगा। हाँ प्रारम्भिक तौर पर यथावश्यक क़ानून भिन्न हो सकता है जैसे यात्री के लिए कानून है नमाजडे कस्त्र का, औऱ सब के लिए कानून है पूरी नमाज़ पढ़ने का, इसको कानून में परिवर्तन नहीं कहते हैं इसका अर्थ यह है कि कानून के नियम भिन्न-भिन्न हैं। इस प्रकार के मनुष्य के लिए यह कानून, और उस प्रकार के मनुष्य के लिए वह कानून, पुरूषों के लिए अलग कानून, और स्त्रियों के लिए अलग कानून, जिस प्रकार भूत काल में हिजरत के बाद कुछ समय तक नमाज़ में बैतुल मुक़द्दस की ओऱ मुँह करके नमाज़ पढ़ने का कानून रहा उसके बाद काबे की ओर मुँह करने का आदेश दिया गया है। यह कानून का परिवर्तन नहीं है बल्कि विधि विधाता ने समय और हालात की दृष्टि मे कानून की मान्यतायें निर्धारित की हैं। वह वास्तव में पहले स्थाई आदेश नहीं था। हमें उसकी

मीआद बताने की आवश्यकता नहीं थी। इसलिए जब हमारी दृष्टि के सामने इसमें परिवर्तन आया तो हम समझे कि जैसे कानून बदल गया। यद्यपि कानून सीमित था और यह सीमाएं प्रकट अब हुई थीं ख़ालिक की निगाह में इसका परिणाम पहले ही से था। यह वास्तविकता है कि इल्में गैब के सम्बन्ध में कुछ विचारकों के अनुसार जो विवाद किया भी जाता है वह रसूल तक सीमित है। किन्तु ख़ालिक के लिए इल्में गैब़ में किसी को संदेह नहीं हो सकता। ख़ालिक ने जो आदेश बदला वह करता है जिसे भविष्य का ज्ञान न हो। अतः आदेशों में जो उसने भूतकाल के लिए था, यह वर्तमान के लिए, और यह भविष्य के लिए है।

यहूद एवं नसारा मन्सूख़ होने से इन्कार करते हैं उनके अनुसार आदेश के निरस्तीकरण से पाश्चाताप साबित होती है जो आदेश आया वह स्थायी है चाहे उस का पालन न हो। अमली तौर प तमाम नसारा की दृष्टि में अब हराम हलाल कोइ चीज़ नहीं है तौरेत में सब आदेश थे कि क्या हराम और क्या हलाल, शराब शरीअते मूसवी (जनाबे मूसा की शरीअत) में हराम थी किन्तु अब ईसाइयों के यहाँ हलाल हराम कोई देश नहीं रह गया यद्यपि आस्थानुसार वह आदेश निरस्त किया गया विधान है अनुचित क़रार पाए। इसलिए वह कहते हैं जो आदेश आ गया वह मंसूख हो ही नहीं सकता चाहे स्वयं सम्पूर्ण शरीअत मंसूख कर दें अर्थात एक शरीअत के स्थान पर दूसरी शरीअत नहीं हो सकती। हाँ, शरीअत के स्थान पर नास्तिकता हो सकती है और यह शरीअते मूसवी अम्ली तौर पर मंसूख क्यों कर

हुई वह एक सज्जन के स्वपन के आधार पर, जनाबे मसीह के बाद एक पाल साहब आए उन्होंने सपने में देखा कि आकाश से एक ज़म्बील उतर रही है और उसमें विभिन्न प्रकार का मांस है। सूवर का मांस ईसाइयों के अनुसार हलाल है यद्यपि शरीअते मूसवी के अनुसार हराम है परन्तु ज़म्बील में स्वप्न में जो उतर आया हलाल हो गया। अर्थात, खुदा के निर्धारित किए गए विधायन को एक स्वप्न के आधार पर निरस्त किया जा सकता है और ख़ालिक की ओर से किसी पैग़म्बर के द्वारा निरस्तीकरण के ऐलान को ईमान और सत्यता के विरूद्ध समझा जाता है।

यह एक गिरोह था जिसने निरस्ती करण से इन्कार किया उसकी देखा देखी में एक गिरोह पैदा हुआ जो “बदाअ” का विरोधी हो गया अर्थात उस व्यक्ति की आयु पहले इतनी थी अब इतनी हो गयी। उनके अनुसार ऐसा नही हो सकता इसमें पश्चाताप ज़ाहिर होता है। यद्दपि इल्मे इलाही में पहले ही से इतनी आयु थी किन्तु उसे दे सदक़े की बरकत दिखाना थी इसलिए आयु का जो फ़ैसला सुनाया गया था वह चालीस वर्ष था उसके बाद जब मसलहत का तकाज़ा हुआ तो बता दिया गया कि तुमने सदक़ा दे दिया इसलिए 19 वर्ष की वृध्दि हो गयी। उसके इल्म मे पहला फ़ैसला भी था और दुसरा फ़ैसला भी था।

वास्तव में शरीअत और ख़ुदा के फ़ैसले में यह परिवर्तन वास्तविक परिवर्न नहीं हैं वरन् पहले ही से शासक की दृष्टि में मीआद निर्धारित है परिवर्तन केवल हमारी दृष्टि और ज्ञानानुसार होरे हैं वास्तव में परिवर्तन नहीं होते।

ज्ञात्वय है कि स्वयं विधि विधाता की ओर से उसके आदेशों में परिवर्तन का इमकान नही है और जो उसका प्रतिनिधि है वह कभी उसके आदेश में परिवर्तन नही कर सकता फिर उसके प्रतिनिधि की ओर से और उसके आदेश से जो रक्षक नयुक्त हुए हैं उनके हाथों से भी परिवर्तन का भय नही है क्यों कि यदि परिवर्तन का भय होता तो रक्षक नियुक्त क्यो किए जाते।

परन्तु संसार ने इस व्यवस्था को नही माना इन शासकों की, इन प्रतिनिधियों की श्रंखला को भी नही माना और यही शराअत परिवर्तन की माँग का मूलभूत आधार है। मुस्लमानो मे हाहाकार है कि "पर्सनल लॉ" में परिवर्तन के प्रयत्न क्यों किए जा रहे हैं यद्दपि पर्सनल लॉ शरीअत का एक अनुच्छ्रेद है। शरीअत में निम्नलिखित भाग होते है जिन पर हमारी फ़िक़ः के अनुच्छ्रेदों का वर्गीकरण होता है।

1. इबादतः- यदि व्यक्ति कोई काम अन्जाम देता है तो उस काम के सही होने के लिए रिज़ाये इलाही की नियत शर्त है बिना रिज़ाये इलाही की नियत के उस काम को अन्जाम दिया जाये तो कोई काम तो हो जाएगा परन्तु वह काम नही होगा जो शरीअत मे है। उदाहरणः- वुज़ु बिना नियत के किया जाए हर अमल

अन्जाम दे दिया जाये जो वुज़ु मे होते हैं तब सफाई तो हो जायेगी किन्तु वुज़ु ना होगा। वुज़ु उसी वक्त होगा जब "क़ुर्बतन इल्ललाह" रिज़ाए इलाही की भावना हो और इसी रिज़ाए इलाही की नियत को पारिभाषिक रुप से इबादत कहते हैं।

2. अक़ुदः- जब नियत की आवश्यकता न हो तो उसका नाम है "अक़ुद" जैसे निक़ाह। यह तो समाजिक रुप से अक़ुद का अर्थ है

वरना शरीअत की दृष्टि से ख़रीदने बेचने में भी ईज़ाबो क़ुबूल की आवश्यकता हीती है। उज़ारः अर्थात मकान आदि जो किराए पर दिया जाता है उसमें भी ईज़ाबो क़ुबूल की आवश्यकता है यह समस्त चीज़े जिसमें ईज़ाबो क़ुबूल की आवश्यकता है अक़ुद कहलाती है।

3. ऐक़ाआतः- जब दो तरफ की आवश्कता न हो एक तरफ से किसी सीग़े के पढ़े जाने की आवश्यकता हो जैसे तलाक़। तलाक़ में दोनो ओर ईज़ाबो क़ुबूल नहीं होता केवल पति तलाक़ का सीग़ा जारी करता है। इसे ऐक़ाअत कहते है।

4. ऐहकामः- कुछ़ चीज़े ऐसी है जिनमें न नियत का सवाल है न ईज़ाबो क़ुबूल का न सीग़े का परन्तु शरीअत ने उनके लिए क़ानून लागू किया है जैसे क़िसास, मीरास, खाने पीने का अनुच्छ़ेद, कि कौन सी ग़िज़ा हलाल है और कौन सी हराम है यह सब अहकाम में दाखिल है।

अब जितने अमल के शोबे हैं वह सब इन्ही चार वर्गो में दाखिल होंगे। इस समय जो पर्सनल लॉ में परिवर्तन का प्रश्न उठाया जा रहा है। यह एक फ़िकः का

क्षेत्र है अर्थात अक़ुद व ऐकाआत जिसका सम्मिलित नाम है मामलात और कुछ़ क्षेत्र ऐहकाम के जैसे तादादे अज़वाज, पति को तलाक़ का अधिकार यह अक़ूद व ऐकाआत से सम्बन्धित है और पोते की मीरास की समस्या यह अहकाम के अनुच्छ़ेद से सम्बन्धित है। बस इन विषयों में पर्सनल लॉ में परिवर्तन के प्रश्न उठते हैं। शेष इबादत में परिवर्तन के विषय में अभी तक कोई आवाज़ नही आ रही है। उदाहरणार्थः- ग़िज़ा से सम्बन्धित जो पाबन्दियाँ है उनका विरोध करने की हिम्मत नही हो रही हो। सम्भवतः अभी तक किसी ने कल्पना भी नही की है। अर्थात केवल कुछ़ क्षेत्र है जिनके कुछ़ भागो में परिवर्तन का जन मानस इच्छ़ुक है और इसी कारण मुस्लमानों में इतनी व्याकुलता व्याप्त है। परन्तु इन सब की जो इमारत है शरीअते इस्लाम की सालमियत का जो आधार है, वह यह है कि शासन व्यवस्था और क़ानून लागू करने का अधिकार किसे है ? जिसे क़ानून लागू करने का अधिकार है उसी को परिवर्तन का भी अधिकार है।

इस्लामी दृष्टि कोण यह है कि क़ानूने शरीअत लागू करने का अधिकार केवल अल्लाह को है यह क़ानून जिसका नाम शरीअत है इसे जनमानस ने नहीं निर्धारित किया और जनमानस का क्या ज़िक्र इसे तो पैग़म्बर ख़ुदा (स.) ने भी स्वयं निर्धारित नहीं किया। ख़ालिक़ अपने पैग़म्बर (स.) को सम्बोधित करके क़ुराने मजीद में इरशाद फ़रमा रहा है - कि “हमने आप को इस शरीअत का पाबन्द बनाया है अर्थात पैग़म्बर (स.) ने भी स्वयं इस शरीअत को नही निर्धारित किया है

वरन् यह व्यवस्था ख़ालिक़ की ओर से निर्धारित की गई है और स्वयं पैग़म्बरे ख़ुदा (स.) को भी इसमे संशोधन और परिवर्तन का अधिकार नही था। मुस्लमानो से शरीअत मे परिवर्तन की माँग का अर्थ यह है कि वह रिसालत के अक़ीदे से विमुख हो जाँए, क़ुरान को कलामे इलाही समझना छ़ोड़ दे जो उस समय के क़ाफ़िर कहते थे कि यह कुरान और यह शरीअत मानवीय व्यवस्था है तो वे भी इस पर सहमत हो जाँए। तात्पर्य यह है कि 1400 वर्ष के बाद मुस्लमानों मे यह माँग है कि वह क़ाफ़िर हो जाँए किन्तु इस वास्विकता को केवल वह समझ सकते हैं जो शरीअत को इलाही क़ानून समझते है। और क़ुरान को भी उन्ही का कलाम मानता है वह इस तर्क से सहमत नहीं हो सकता अतः इस समस्या को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है।"

मानवीय भावनाओं को प्रभावित करने वाला सर्वोन्मुखी तथ्य है बेटों के होते हुए पोतों का मीरास से वंचित किया जाना। इस पर इन्सानी भावनाओं को आधार बना कर आपत्तियाँ प्रस्तुत की जाती है, किन्तु यह देखिए कि यह क़ानून लागू किसका किया हुआ है। मुस्लमान तो यही कहेगा कि अल्लाह का निर्धारित किया हुआ है किन्तु जो रिसालत को नही मानता वह तो समझेगा इन्ही का निर्धारित किया हुआ है।

हम अपने बेटों के होते हुए पोतों का वंचित किया जाना अधिक महसुस करते है। या जो स्वयं इस दौर से गुज़रा हो जो स्वयं अपने माता या पिता की

मृत्यु के कारण अनाथ हो। परन्तु कोई तो होगा एक ओर से अनाथ और हज़रत पैग़म्बर ख़ुदा (स.) "यतीमल अबवैन" थे। पिता की मृत्यु उस समय हुई जब आप माता के गर्भ में थे अर्थात कोई यतीम होता होगा किसी आयु में मगर हमारे रसूल ने तो जन्म ही अनाथावस्था मे लिया था। और जब पिता उठ जाए तो सभी को मालूम है कि मात्र प्रेम दोहरा हो जाता है। वह मानो अपने को पिता का भी प्रतिनिधि समझने लगती है (परन्तु 6 वर्ष की आयु में सर से माता का साया भी उठ गया अब यह रसूल बिन बाप के भी हैं और बिन माँ के भी।)

यदि क़ानूने शरीअत मे भावनाओं का समावेश होता तो इनसे बढ़ कर इस बेनवाई को अनुभव करने वाला और कौन हो सकता है, और इस रसूल (स.) ने यह कानून लागू किया, कि बेटों के होते हुए पोते मीरास से वंचित रहें तो इनकी ज़बान से इस कानून का लागू होना बताता है कि क़ानूने शरीअत में भावना का नहीं उसूल का प्रश्न है। शरीअत में सम्पति से सम्बन्धित दो प्रकार के आदेश हैं एक वह जिसमें निर्धनता, दरिद्रता, परेशानहाली आदि चीज़ो का मसावेश है इसका प्रमुख आधार है परेशानी जितनी अधिक होगी उतना अधिक अधिकार पैदा होगा।

अर्थात आपके सामने फ़क़ीर, यूँ तो शरीअत की परिभाषा में फ़कीर "जो ज़कात का पात्र है" हर व्यक्ति है जिसका साल भर के खाने का सहारा न हो, चाहे सम्पति काफ़ी मोजूद हो किन्तु साल भर के खाने का सहारा नहीं तो शरीअत की नज़र में वह ज़कात का पात्र है। इसी लिए कहा गया है कि बहुत सम्भव है कि

ज़कात का पात्र वह व्यक्ति भी हो जो अपने घोड़े पर बैठ कर ज़कात लेने आया है। शरीअत की नज़र से वह व्यक्ति भी ज़कात का पात्र है जिसकी दैनिक आवश्यकता पुर्ति के लिए सेवक भी मौजुद है किन्तु उसकी जीवन शैली ऐसी है कि जो आता है वह खर्च हो जाता है। साल भर के खाने का उसे सहारा नही है। इतना भी पास नही है कि साल भर वह बिना किसी ग़ैर की खुशामद के या बिना किसी विशेष प्रयत्न के जीवन यापन कर ले। किन्तु यदि सहारा अर्थात स्थायी नौकरी मौजुद है तो फिर वह फ़कीर में दाखिल नहीं है। आप के सामने दो व्यक्ति आये एक ऐसा जो शरीअत की परिभाषा में फ़कीर है और दुसरा वह जिसके साल भर का क्या ज़िक्र, दुसरे दिन के भी, खाने का सहारा नहीं। हैं, दोनों प्रमाणित फ़कीर किन्तु परेशानहाली के आधार पर जिसके दुसरे दिन के खाने का सहारा नही उसकी पात्रता अधिक है। यह शरीअत का वह नियम है जो दरिद्रता, परेशानीहाली को दृष्टि में रख के बनाया गया है, किन्तु मीरास का जहाँ तक सम्बन्ध है, वह उन आदेशों मे नहीं है जिसमें परेशानीहाली का समावेश हो। यह पोते को बेचारा कह कर परेशानहाली के आधार को बीच में लाया जाता है। तो मीरास का आधार परेशानहाली नहीं है। मीरास का आधार सम्बन्धों पर है। यहाँ पोते को यह बेचारा कह कर शरीअत में भावनाओं का समावेश कर दिया जाता है किन्तु यह अनुचित है क्यो कि इस प्रश्न पर इस प्रकार भी नज़र करना चाहिये कि पुत्र की उपस्थिति मे भाई वंचित है पुत्र लखपति है और भाई बेचारा निर्धन, अंधा,अपाहिज तो बेचारे

वाली फ़िलासफी यहाँ भी जारी होनी चाहिए। अर्थात इस प्रकार कहना चाहिये कि चूँकि पुत्र लखपति है अतः मीरास भाई को दिलवा दी जाये। इसलिए कि वह परेशान हाल है। दो लड़के हैं एक किसी बड़े पद पर है हज़ारों की मासिक आय है और दुसरा बेटा छात्र है उसका भविष्य सुरक्षित नहीं किन्तु बेटे होने की दृष्टि से दोनों एक हैसियत रखते है, अतः समान रुप से बटवारा होगा यह नहीं होगा कि जो बेटा लखपति है कह दिया जाए, कि उसे देने की कोई आवश्यकता नहीं है और दुसरे को सब दे दिया जाए, इस प्रकार का मीरास का बटवारा न्याय नही अन्याय होगा अतः इस्लाम मे मीरास का बटवारा भावना से नहीं, आवश्यकता से नहीं वरन् उसूल से सम्बन्धित है।

बेटा और पोता होने में क्या अन्तर है ? बेटा है किसी मध्यस्थ के बिना संतान, और पोता है, संतान की संतान, तो वह उसके सम्बन्ध से सम्बन्ध रखता है, जैसे पिता और दादा में है, अतः मिरास के उसूल में पिता है प्रथम श्रेणी में और दादा है, द्दितीय श्रेणी में है,। भाईयों के साथ यदि किसी ने माता - पिता भी छ़ोड़े है और दादा दादी भी तो मिरास माता- पिता को मिलेगी भाईयों को या दादा दादी को नही तो जिस नियम के आधार पर पिता की उपस्थिति में दादा को पात्रता प्राप्त नही है यघपी पिता के अपेक्षा दादा वृध्द है, शक्तिहीन है जीविका कमाने कि सामर्थ नहीं है, परन्तु पोते की मीरास का अधिकारी नहीं है, क्योकि मिरास की आधार शीला पात्रता पर नहीं रखी गई है वरन् सम्बन्धो पर रखी गई है जो

निकटतम सम्बन्धी है, उसकी उपस्थिति में दूर के सम्बन्धी अधिकारी नहीं है। हाँ यदि दुसरी संतान नही है तो पुत्र की संतान ही संतान समान होगी वह अधिकार जो संतान का है वह संतान की संतान का होगा। अर्थात दुसरे पुत्र नही हैं, तो मिरास पोते को ही मिलेगी। उसूल का तक़ाज़ा यही है। इसमे भावनाओ का समावेश करना क़ानूने शरीअत का विरोध करना है।

इसी सम्बन्ध मे एक प्रश्न यह सामने आता है कि कितना अन्याय है कि पुरुषों को परदे में नहीं रखा और स्त्री को पर्दे में रखा यह स्त्री का अपमान है। यधपि अपमान पुरुष को अनुभव करना चाहिए स्त्री को नहीं। दैनिक जीवन में इसका उदाहरण इस प्रकार दिया जा सकता है कि कोई व्यक्ति अपने मुल्यवान और आवश्यक कागज़ात का सन्दुक़चा लिए बैठा देख रहा है। कोई विश्वास पात्र व्यक्ति आया तो सन्दुकचा खुला रहा उसी प्रकार काग़ज़ात देखते रहे किन्तु कोई सन्देह जनक व्यक्ति आ गया तो तुरन्त सन्दुक बन्द कर दिया और काग़ज़ को सुरक्षित कर दिया। विचारणीय तथ्य है कि अपमान काग़ज़ात का हुआ अथवा उस व्यक्ति का ? तात्पर्य यह कि जिसका पर्दा हो उसका अपमान नहीं जिससे पर्दा हो उसका अपमान हुआ और यह उदाहरण अकारण नहीं दिया जा रहा है यह एक भावनात्मक वास्तविकता के आधार पर है। इस्लाम ने पुरुष को पर्दे में नहीं रखा है यह विश्वास था स्त्री की फ़ितरत पर कि ख्यानत का प्रारम्भ इसकी ओर से नहीं होगा, और स्त्री को पर्दे मे रखा यह वास्तव में पुरुष की फ़ितरत पर अविश्वास है।

इसी लिए पर्दा पुरुष को अप्रिय हैं। वह मिस्र हो या भारत या कोई भी देश हो "आज़ादिऐ निसवाँ" (स्त्री स्वतन्त्रता) के आन्दोलन का आरम्भ सब से पहले स्त्री की ओर से नहीं हुआ। सदैव स्त्री के दर्द को पुरुषों ने अपने दिल में स्थान देकर आवाज़ उठाई है। अब इसका उदाहरण थोड़ा कठोर भी है थोड़ा ना गवार भी किन्तु वास्तविक्ता यह है कि स्त्री पर्दे के सम्बन्ध में पुरुष विद्रोह इस प्रकार है कि जैसेः- "संसार भर के चोर डाकु जमा हो कर कान्फ्रेन्स करें इस तथ्य के लिए कि रात्रि में घरों के दरवाज़े बन्द क्यों रहते हैं।" तो जितना औचित्य इस आन्दोलन का होगा उतना ही औचित्य स्त्री पर्दे के विरुध्द पुरुष आपत्ति का होगा।

यह कहना की पर्दा स्त्री जाति का अपमान हैष तो धार्मिक दृष्टि से जो स्त्रियाँ सर्वोच्च हैं उन स्त्रियों के पर्दे में कमी होती, इसलिए कि स्त्री जाति में उनका आदर और सम्मान स्थापित करना है। किन्तु धिर्मिक दृष्टि से जितनी महानता अधिक उतना आदेश कठोर हैं।

अज़वाजे पैग़म्बर (रसूल की पत्नियाँ) जिनके लिए क़ुरान मजीद की आयत है "अज़वाजहु उम्महातहुम" पैग़म्बर की पत्नियाँ मुस्लमानों की मोऐं है। और यह शब्द केवल व्यवहारिक रुप से प्रयुक्त नहीं किए गए हैं वरन् माता से सम्बन्धित आदेश भी दिए गए हैं। उदाहरणार्थ प्रत्येक विधवा से पति की मृत्यु के पश्चात इद्दत की समाप्ति के बाद निकाह जाएज़ है किन्तु अज़वाजे रसूल के लिए यह कल्पना भी जाएज़ नहीं है परन्तु इस आदेश के उपरान्त भी पर्दे के हुक्म में कमी

नहीं आई वरन् और वृध्दि हो गई। समस्त स्त्री जाति के लिए पर्दा चेहरे और शरीर का हैं इसलिए बुर्क़ा या चादर ओढ़ कर स्त्रियाँ बाहर निकलती हैं किन्तु अज़वाजे रसूल के लिए चारदिवारी का पर्दा वाजिब कर दिया गया इरशाद हुआ "वक़रना फ़ी ब्युते कुन्ना" । (अपने घरों में क़रार और सुकून के साथ बैठो) इसका अर्थ ये है कि बुर्क़ा और चादर ओढ़ने के बाद भी तुम्हारे लिए बाहर आना उचित नहीं है। अब अपने अपने इजतिहाद से किसने कितना अमल किया यह अलग बात है किन्तु अज़वाजे रसूल में कुछ ऐसी थीं जिन्होने इस आदेश को वरीयता दी। जनाबे सौदाह बिन्ते ज़मा (उम्मुल मोमनीन थीं) ने रसूल के बाद फिर हज नहीं किया। किसी ने कहा आप हज को क्यों नहीं जाती तो कहा कि पैग़म्बर (स.) के ज़माने में तो मैंने हज किया है परन्तु अब तो अल्लाह का आदेश यह हैं कि अपने घरों में रहो अब हज करना मेरे लिए फ़जीलत का कारण नहीं है। जनाबे उम्मे सलमा वह महान स्त्री जो अहले बैत रसूल के साथ सदैव सम्बध्द रहीं जिन्होने रसूल की ज़ौजियत की लाज रखी।

तात्पर्य यह है कि ज़ौजियते रसूल जो एक विशेष आदर व सम्मान का प्रतीक है इसके साथ भी पर्दे के आदेश में कमी नहीं हुई वरन् वृध्दि हो गई। यहाँ तक कि वह पुत्री जो "बिज़्ज़त उर-रसूल" है उसका यह अमल कि कभी मस्जिद में अपने पिता का खुत्बा सुनने के लिए बुर्क़ा या चादर ओढ़ कर भी नहीं आई यध्पि

मस्जिदे रसूल और ख़ानऐ सय्यैदा के मध्य न कोई सड़क थी और न कोई बाज़ार किन्तु यह पर्दे की अज़मत संसार पर सुस्पष्ट करना थी।

इसी सम्बन्ध में एक अन्य प्रश्न यह भी सामने आता है कि इस्लाम धर्म ने पुरुष और स्त्री मे मसावात नही बरती तो यह स्त्री के साथ अन्याय है। तादादे अज़वाज पर पाबन्दी होना चाहिए क़ानूने शरीअत में परिवर्तन होना चाहिए। यह कितना ग़ैर इन्सानी अमल है कि पुरुष एक समय में चार विवाह कर लेते हैं किन्तु स्त्री को यह अधिकार नहीं दिया गया।

वास्तविक्ता यह है कि यदी क़ानूने इस्लाम किसी ऐसे व्यक्ति के माध्यम से लागू होता जिसे अल्लाह ने केवल पुत्र प्रदान किये होते तो अन्याय की कल्पना की जा सकती थी किन्तु वह पैग़म्बर (स.) जिसे अल्लाह ने केवल बेटी ही प्रदान की हो और पुत्री भी ऐसी जिसे पैग़म्बर (स.) स्वयं इतना सम्मान दे रहे हैं जैसा संसार में किसी अन्य पिता ने अपनी पुत्री का आदर नहीं किया होगा। अर्थात कोई पिता अपनी पुत्री के सम्मान मे खड़ा नही होता परन्तु हज़रत पैग़म्बरे ख़ुदा (स.) सदैव पुत्री के सम्मान में ख़ड़े होते थें। सही ज़िन्दी की रवायत है “ईज़ा दख़ालत फ़ातेमतो क़ामा अलैहा रसूल उल लाहे वा रहाबहा वा अजालहो फ़ी मकानेही” ।

जब आती थी फ़ात्मा ज़हरा (स.अ) तो हज़रत पैग़म्बरे ख़ुदा (स.) ख़ड़े हो जाते और मर्हबा फ़र्माते और अपनी जगह पर बिठाते थे। स्पष्ट है जब तक सैय्यदा (स.अ) बैठी हुई हैं पैग़म्बरे ख़ुदा (स.) अपने स्थान पर नहीं बैठेंगे जब शहज़ादी उठ

कर चली जाएगी तो रसूले ख़ुदा (स.) अपने स्थान पर आकर पुनः बैठ जाएंगे। जब ऐसी महान पुत्री के होते हुए रसूल (स.) क़ानून लागू फ़र्मा रहा है तो कल्पना भी नहीं की जा सकती कि स्त्री जाति के साथ अन्याय होगा। सर्वप्रथम इस प्रश्न पर कि पुरुष को बहुविवाह का अधिकार प्राप्त है स्त्री को नहीं। इस पर इस दृष्टिकोण से विचार करना चाहिये कि इस्लाम मे विवाह कामइच्छ़ा की पुर्ति का माध्यम नहीं है वरन् यह वँशवृद्दि का आधार है, जीवन व्यवस्था को आगे बढ़ाने का माध्यम है यदि स्त्री को एक समय में अधिक विवाह करने का अधिकार दे दिया जाता तो इस से वँशवृद्दि मे कोई लाभ नहीं पहुँच सकता था, क्योकि स्त्री एक समय मे कितने भी पुरुषों से सम्बन्ध स्थापित करें विवाह लाभ बस एक ही से पुरा होगा अर्थात एक समय पर एक गर्भ धारण कर सकती है। इस के विपरीत पुरुष एक समय मे कई विवाह जीवन करें तो वँशवृद्दि का उद्देश्य पुरा हो सकता है। अर्थात इस्लाम में विवाह जीवन व्यवस्था को आगे बढ़ाने का एक अलांछ़िक शरीफ़ाना उद्देश्य है। इसके अतिरिक्त शरीअते इस्लाम मे विवाह व्यवस्था में जो “ईज़ाबो क़ुबूल” की शर्त रखी गई है। उसमें ईज़ाब स्त्री की ओर से रखा गया है निःसंदेह ईज़ाबो क़ुबूल से पहले स्त्री सम्मान को स्थापित रखने के लिए यह सुन्नत रखी गई कि तालिब पुरुष को होना चाहिए स्त्री को नहीं अर्थात पैग़ाम पुरुष को देना चाहिए किन्तु जब निस्बत तय हो गई (और यह स्पष्ट है कि पाबन्दियाँ निस्बत के बाद से लागू नहीं होती निक़ाह के बाद से लागू होती हैं) तो ईज़ाब स्त्री की ओर

से हो रहा है अर्थात पेशक़दमी। लाख पुरुष अक़्द करना चाहे किन्तु स्त्री की ओर का वकील "अनकहतो" न कहे तो पुरुष विवश है उनके वकील साहब पुरी तसबीह "क़बल्लतू" की पढ़ा जाए वह भी बेकार क्योकि जब ईज़ाब ही नही हुआ तो क़बल्तो के क्या अर्थ होंगे।

यह तो आज के समाज का दस्तुर बन गया है कि लड़की स्वयं अक़्द के सीग़े जारी नही करती और लड़का भी स्वयं सीग़ए क़ुबूल जारी नही करता उधर से भी मौलवी साहब आते हैं और इधर से भी। किन्तु वास्तव में सीग़े जारी करना स्वयं स्त्री - पुरूष का काम है। साँराश यह कि जब सीग़ै अक़्द जारी करना और उसमें भी ईज़ाब स्त्री का काम है तो फिर कान्फ्रेन्स करके पुरुषों से इस माँग की आवश्यकता ही नहीं है कि तुम कई विवाह न करो वरन् कान्फ्रेन्स करके स्त्रीयाँ यह तय कर लें कि हम किसी विवाहित पुरुष से अक़्द नही करेगें। यदि स्त्रियाँ इस तथ्य पर एकमत हो जाएं तो कोई शरीअत उन्हे विवश नहीं कर सकती कि तुम्हें ऐसे पुरुष के साथ विवाह अवश्य करना चाहिए। यह तो स्वयं स्त्री अधिकार है कि वह स्वयं किसे पसन्द करती है। और किसके साथ अक़्द करती है इसमें क़ानूने शराअत में परिवर्तन का कोई प्रश्न ही नहीं है। यह तो स्त्रीयों के समझने की बात हैं कि वह कान्फ्रेन्स करके अपनी ग़लती दुर करें कि वह विवाहित पुरुष से पत्नी की मौजूदगी में कभी विवाह नहीं करेंगी। फिर पुरुष लाख दुसरा विवाह करना चाहे उन्हे दुसरी स्त्री मिलेगी ही नहीं की दुसरा विवाह कर सके।

पुरुष का तो केवल यह काम है कि जो खालिक़ की ओर से उसके कर्तव्य निर्धारित किए गए हैं जो ज़िम्मेदारी अल्लाह की ओर से उस पर लागू की गयी हैं उसमे कोई पक्षपात न करें। यदि स्वीकार किया है तो यह स्वीकृति के आधार पर ज़िम्मेदारी आती हैं कि वह स्त्री की समस्त इच्छाओं और आवश्यकताओं की पुर्ति करे।

साधारणतया संसार का प्रचलन यह है कि पुरुष अन्याय भी करता है और बाद में कोई श्रीमती यह शिकायत करे, तो वह कहेंगे कि मैनें कब कहा था तुमसे कि मुझसे विवाह करो तुम स्वयं ही तो आई थी। तुम्हे तो मालूम था कि मेरी एक ऐसी प्रिय पत्नी मौजुद है तो समस्त परिणामों के विषय मे सोच कर आई हो तो अब तुम्हे शिकायत का अधिकार ही क्या है। परन्तु नहीं वास्तविकता यह है कि पुरुष स्वीकृति में उसकी मर्ज़ी शामिल है यदि वह इस तक़ाज़ो को निबाह नही सकता तो उसे स्वीकार नही करना चाहिए। अब जब स्वीकार किया है तो उसे इन तमाम सम्बन्धों के मध्य कर्तव्यपरायणता की दृष्टि से समानता बरतना होगी।

पैग़म्बर (स.) के चरित्र से सम्बन्धित भी एक प्रश्न बहुत विवाद का विषय बना रहता है कि दुसरों को तो चार विवाह का अधिकार दिया परन्तु स्वयं रसूल के यहाँ यह संख्या नौ तक है अर्थात पैग़म्बर (स.) ने काम इच्छा पुर्ति में अपना अधिकार अधिक रखा।

हमारी शरीअते इस्लाम में **विवाह** के दो प्रकार है। एक स्थाई विवाह (निक़ाह) और दुसरा अस्थाई विवाह (मुताअ) जिस प्रकार ईसाई व्यवस्था की दृष्टि में विवाह ही वास्तव काम इच्छा की पुर्ति का नाम है मानो वासना पुर्ति है परन्तु वास्तव में यह शरीअते इस्लाम का भाग है। स्थायी विवाह में आनन्द की अनुभूति भी है और पाबन्दियाँ भी किन्तु मुताअ सामाजिक आवश्यकता की पुर्ति का माध्यम है और उनके प्रति कर्तव्य कुछ़ नहीं। चार की संख्या जो है वह स्थाई विवाह की है परन्तु मुताअ की संख्या क़ुरान में कोई नहीं। हमारे लिए चार की सीमा स्थायी विवाह में निर्धारित की गई है जिसमें ज़िम्मेदारियाँ भी होती हैं। और निर्धारित कर्तव्य भी होते है, जब की मुताअ की कोई सीमा नहीं निर्धारित की जिसमें केवल सामायिक उन्माद होता है ज़िम्मेदारी कोई नहीं। रसूल ने मुताअ से कभी लाभार्जन नहीं किया अपितु निकाह में पत्नियों कि संख्या बढ़ा लीं अर्थात इच्छ़ा पुर्ति और आनन्द प्राप्ति में हमें अधिक भाग दे दिया और कर्तव्यनिष्ठा में अपनी भागीदारी अधिक रखी। इस्लाम में पुरुष के लिए चार विवाह कि सीमा भी इन शब्दों के साथ निर्धारित की गई है। “कठिन है कि तुम इसका निर्वहन कर सको और इस दायित्व को तुम सब के साथ पुरा कर सको यदि पुरा कर सको तो ठीक है।” (फ़ा इन ख़िफ़तुम अल्ल तआदेलू फ़वाहेदहू) और अगर अदा न कर सको तो बस एक। मनुष्य के लिए तो बहुत सरल युक्ती प्रतीत होती है कि वह जीवन पर्यन्त विवाह ना करे बहुत से लोग नहीं करते किन्तु वास्तव में यह जिहादे हयात से फ़रार है।

यही कारण है कि ख़ालक़ ने ताजे रिसालत विवाहित पुरुष को पहनाया है। विचारणींय तथ्य यह है कि यदि रसूल (स.) की पत्नि केवल खदीजतुल कुबरा (अ.) रहतीं तो फिर भी जनमानस तर्कप्रस्तुति का अधिकारी था। हुज़ूर आप को तो सौभाग्य से ऐसी पत्नि मिली जो आप के स्वभाव अनुसार थी, आप को क्या मालूम ? हमारा कैसी - कैसी स्त्रियों से साबिक़ः हुआ। अर्थात तर्क समाप्ति न होती। अतः आवश्यकाता थी कि पैग़म्बर (स.) के जीवन में वह दौर भी आ जाये जब यह तर्क समाप्त हो जाये पैग़म्बर (स.) संसार को बता दें कि देखो जीवन संतुलन सम्भव है हर स्वभाव की हर प्रविति की और हर आयु की पत्नि के साथ। अर्थात रसूले ख़ुदा (स.) का जीवन संसार के सामने उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए इन ज़न्जीरों में जकड़ा गया था।

शब्दकोश

1. शरीअतः- (धार्मिक क़ानून)
2. निज़ामे ज़िन्दगीः- (जीवन शैली)
3. इन्सानी फ़ितरतः- (मानवीय प्रवृति)
4. मिरासः- (पैतृक सम्पति, आनुवँशिक सम्पदा)
5. फ़िक्रः- (सम्प्रदाय)
6. मसावातः- (बराबरी,समानता, निर्पेक्षत)

7. वज़ाहतः- (स्पष्टीकरण)

8. नफ़्सः- (प्राणवायु, अस्तित्व)

9. फ़रमानः- (राजा देश)

10. ग़दीरः- (वह घटना जहाँ पैग़म्बर (स.) ने हज़रत अली के उत्तराधिकार की घोषणा की थी।)

11. ख़ालिक़ः- (सृष्टिकर्ता)

12. क़ाफिरः- (ईश्वर की दी हुई नेमतों पर कृतज्ञता प्रकट ना करने वाला)

13. मुनाफ़िक़ाः- (जिस के अन्दर कुछ़ हो बाहर कुछ़)

14. इल्में गैबः- (भविष्य ज्ञाता)

15. मन्सूखः- (निरस्त)

16. हरामः- (जो धर्म वर्जित हो)

17. हलालः- (जो धर्म वर्जित न हो)

18. ज़म्बीलः- (पिटारा)

19. सदक़ाः- (न्योछ़ावर)

20. रिज़ाये इलाहीः- (ईश्वरीय समर्थन)

21. ईज़ाबो क़ुबूलः- (दो व्यक्तियों का परस्पर किसी तथ्य पर सहमत होना, स्वीकार करना)

22. सीग़ाः- (श्लोक)

23. क़िसासः- (प्रतिशोध)

24. अमल के शोबः- (अनुपालनीय वर्गीकरण)

25. ग़िज़ाः- (पोषत तत्व)

26. सालिमयतः- (सम्पुर्णतः)

27. बेनवाईः- (जिस के पास जीवन यापन की कोई सामाग्री न हो)

28. इद्दतः- (मुसलमानों में पति के तलाक़ देने या मृत्यु के बाद का वह समय जिस में स्त्री पुनर्विवाह नहीं कर सकती, वह समय सौ दिन का होता है।)

29. इज्तिहादः- (जहाँ क़ुरान और हदीस का आदेश साफ ना हो वहाँ अपनी राय से उचित रास्ता निकालना)

30. फ़जीलतः- (श्रेष्ठता)

31. मरहबाः- (बहुत ख़ुब, शाबाश)

32. तालिबः- (अभिलाषी)

33. ईज़ाबः- (ईच्छ़ा व्यक्त करना)

34. क़ुबूलः- (स्वीकृति)

35. सीग़ऐ कुबूलः- (संस्वीकृति के शब्दोच्चारण)

36. तकाज़ोः- (मान्यताओ)

37. निबाहः- (निर्वहन)

38. जिहादे हयात से फ़रारः- (कर्म क्षेत्र से पलायन)

39. हिबः- (अनुदान, पारितोषक)

40. शिर्कः- (ईश्वरत्य में ईश्वर के अतिरिक्त किसी और को भी सम्मलित करना)

41. तौहीदः- (एकेश्वरवाद)

42. तायरः- (पक्षी)

[[अलहम्दो लिल्लाह किताब (मुस्लिम पर्सनल लाँ) पूरी टाईप हो गई खुदा वंदे आलम से दुआगौ हुं कि हमारे इस अमल को कुबुल फरमाऐ और इमाम हुसैन (अ.) फाउनडेशन को तरक्की इनायत फरमाए कि जिन्होने इस किताब को अपनी साइट (अलहसनैन इस्लामी नेटवर्क) के लिऐ टाइप कराया। 20.7.2017

विषयसूची

भूमिकाः- 13

दीर्घ काल 17

इबादतः 27

इस्लामी दृष्टि कोण 29

इसी सम्बन्ध में 37

शब्दकोश 42